JANUARY 1999

ह्रीं

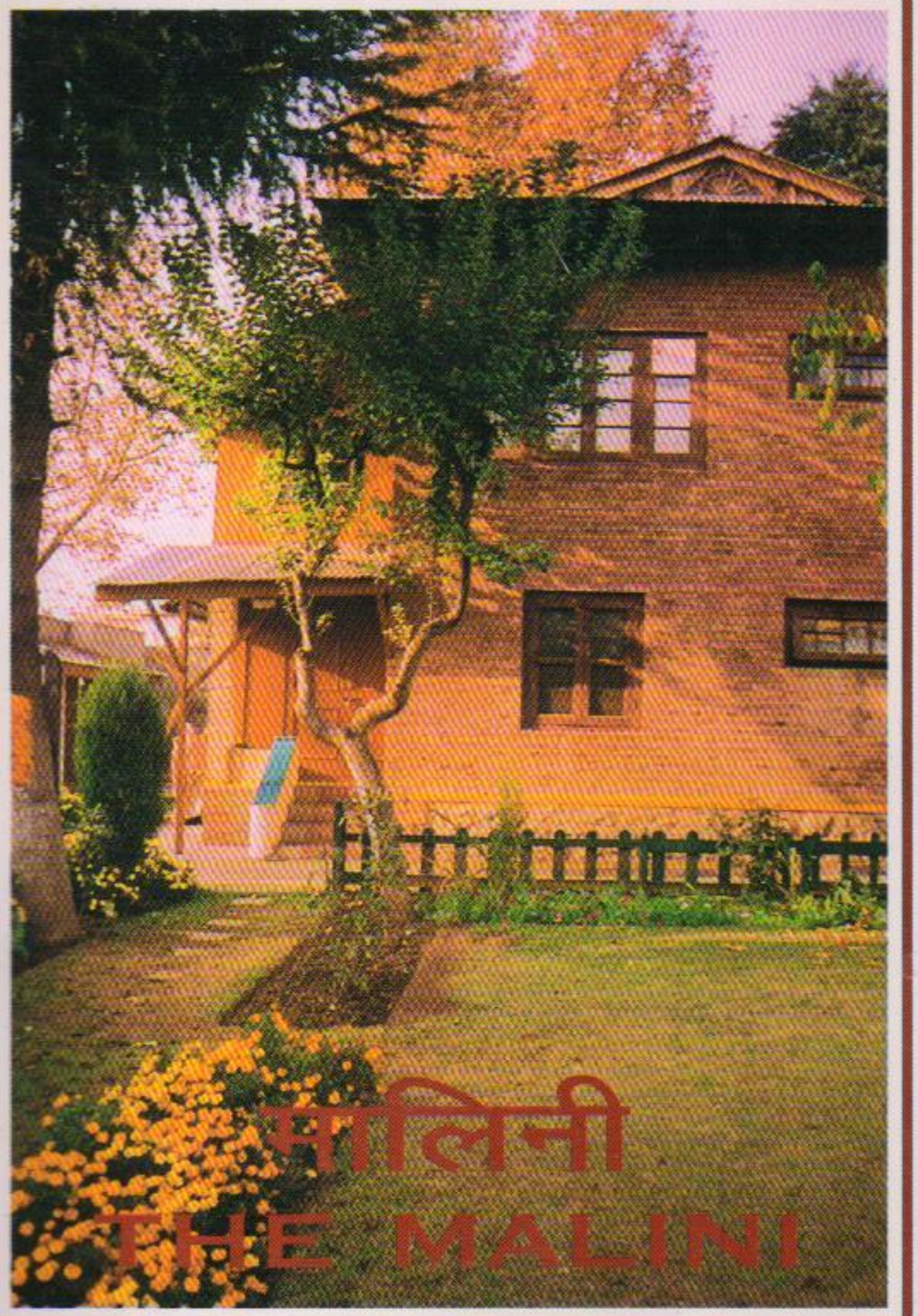

मालिनी
THE MALINI

ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Vol. IV NO. 4 ISSUE XVI
JANUARY, 1999

मालिनी

THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union with her all the treatises of non-dualistic order achieve the nature of divine potency.

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Board of Trustees :
Sri Inderkrishan Raina
(Secretary/Trustee)
Sri Samvit Prakash Dhar
Sri Brijnath Kaul
Sri Mohankrishan Wattal

Editorial Board :
Sushri Prabhadevi
Prof. Nilakanth Gurtoo
Prof. Makhanlal Kukiloo
Sri Somnath Saproo

Sri Brijmohan
(I.A.S. Retd.) Co-ordination

Publishers :
Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180 002.
Tel. : 555755

Branch Office :
Ishwar Ashram Trust
F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044
Tel. : 6943307

January, 1999
Price : Rs. 20.00

© Ishwar Ashram Trust

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

	सम्पादक की लेखनी से		4
1.	Śiva Sūtras	*Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāja*	6
2.	The Secret Exposition of Amṛteśvara Bhairava Mantra	*Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāja*	11
3.	Abhinavagupta's Anuttarāṣṭikā	*Dr. Bettina Baumer*	15
4.	Sadguru Aṣṭottaraśatanāmāvalī	*Trans. by Sh. S.P. Dhar*	21
5.	'श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रह' पर एक विहंगम दृष्टि	*सुश्री प्रभादेवी*	31
6.	षोडशकलायै श्रीशारिकादेव्यै नमः	*कमलेति कौलो जानकीनाथः*	37
7.	शैवदर्शन के वातायन से	*प्रो० नीलकण्ठ गुरुटू*	39
8.	भगवत्कृपा - एक विचित्र रहस्य	*जानकीनाथ कौल 'कमल'*	41
9.	Think it Over	*Gems from Aṣṭāvakra Gītā Sāra*	47
10.	From Ashram Desk	*Administrative Office*	48

संपादक की लेखनी से

नववर्ष की मंगलमय शुभकामनाओं के साथ 'मालिनी' का सोलहवां अंक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार प्रसन्नता हो रही है। इस अंक की एक और विशेषता यह है कि यह अंक महाशिवरात्रि के पावन पर्व पर प्रकाशित हो रहा है। महाशिवरात्रि पर भगवान् आशुतोष थोडी सी भक्ति, साधना या नाम संकीर्तन से भक्तों को उस विशेष स्थिति से महिमान्वित करते हैं जिस में जीव, शिवदशा में क्रिया, ज्ञान और आनन्द से अनुस्यूत होकर प्रवेश पाता है। अर्थात् इस महापर्वरात्रि में साधाक उस अनुत्तर तत्त्व का साक्षात्कार, सत्गुरुकृपा से बिना किसी अवरोध के, कर सकता है, जिसमें शक्ति और शिव का सामरस्य नीरक्षीरवत् अभिन्न दीख पडता है। इसी लिए हमारे शास्त्रों में शिवपार्वती परिणय वेला के रूप में भी इस रात्रि की प्रशंसा की गई है। क्योंकि इस वेला से जीव की उस मानसिक स्थिति का अभिप्राय है जो क्रोध, वासना, लोभ अहंभाव की सूचक है अतः जैसे शिवपार्वती परिणय की इच्छा इस दिन सफल हुई है, इसी तरह से बद्धजीव भी अपनी अवांछित मानसिक स्थिति का परित्याग कर इस रात्रि में उस सर्वाधार से अपना नाता जोड़ना चाहता है ताकि महनीय शिव अवस्था का भागीदार बन पांये। पार्वती ने शिव सायुज्य को पाने के लिए अवर्णनीय कठोर तपस्या, पंचाग्नि साधन से की। उसने वर्षों तक अन्न, जल, फल आदि का त्याग किया। वृक्षों से, वायु के चलने से स्वतः पतित पत्तों का आहार करना भी छोड दिया जिस पर "अपर्णा"– पत्तों को भी खाना जिसने त्यागा हो– नाम से प्रसिद्ध हुई ।उसकी अनन्य तपस्या उस चरम बिन्दु पर पहुंची थी कि 'उमा', अर्थात् 'उ'– तपस्या अधिक, 'मा'– मत करो, नाम से विख्यात हुई। यथोक्त तपश्चर्या का अवसान इसी 'शिवरात्रि' पर हुआ और भगवान शिव साक्षात् अवतरित हो के उमा के साथ एकाकार हुए। इसी प्रकार से बद्धजीव को भी अपने स्वरूप में स्थित होने के लिए अपना अहं, क्रोध, लोभ आदि सर्वैषणाओं का त्याग करके, कठोर व्रत का पालन करना है ताकि सद्गुरु महाराज की कृपा से इसी शिवरात्रि महोत्सव पर अकस्मात् तीव्र-शक्तिपात से सुशोभित हो उठे। इसी का संकेत आचार्य उत्पलदेव ने भी शिवस्तोत्रावली में इस प्रकार किया है–

यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वान्
चन्द्रमः प्रभृतिभिः सह सर्वैः।
कापि सा विजयते शिवरात्रिः
स्वप्रभा प्रसर भास्वर रूपा।।

अर्थात् प्राणरूपी सूर्य (अथवा प्रमाणप्रकाश) चन्द्रमा आदि (अर्थात् प्रमेय आदि) सभी संकल्प विकल्प रूपी तारा मण्डल के साथ, जिस दशा में, प्रशान्त होता है चित् प्रकाश के प्रकट होने से प्रकाश शोला बनी हुई वह असाधारण शिवरात्रि (शिवसमावेशभूमिः) धन्य है।

भगवान् बुद्ध को भी जब अवर्णनीय ज्ञान प्राप्ति हुई तो उसने भी उसे शिवरात्रि के नाम से संबोधित किया। अतः उत्कट भक्ति, साधना और तपस्या के फलस्वरूप शिवदशा में सहज प्रवेश पाने का नाम ही "शिवरात्रि" है। सद्गुरुमहाराज से हमारी यही विनम्र प्रार्थना है कि इस महापर्व पर हम सबका उद्धार हो और हम भी शिव-समावेश-भूमि के भगीदार हों। तथास्तु।

जय गुरुदेव

समस्त मालिनी परिवार को शिवरात्रि की हार्दिक शुभकामनायें।

शिवरात्रि, १९९९

प्रो० मखनलाल कुकिलू

MALINI - Quarterly Magazine

Annual Subscription : Rs. 80.00

Price Per Copy : Rs. 20.00

Overseas Subscription : US$25.00

All correspondence & subscription must be sent to the Administrative Office :

2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180 002.

Information regarding printing & publishing etc. can be had from

ISHWAR ASHRAM TRUST
F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044.

ŚIVA SŪTRAS

with Vimarśinī Sanskrit Commentary of Śrī Kṣemarāja

VII

Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

(Continued from last issue)

उक्तं च श्री भर्गशिखायां–As is said in Bhargaśikhā:-

मृत्युं च कालं च कलाकलापं
विकारजालं प्रतिपत्तिसात्म्यम्।
ऐकात्म्य नानात्म्य विकल्पजातं
तदा स सर्वं कवली करोति॥ इति॥

तदा–at the time of getting wheel of energies, स–he, कवलीकरोति–digests, सर्वं–everything, मृत्युं–digests death, च कालं–and time, च कला कलापं–and the bundle of all activities, विकारजालं–totality of all emotions, प्रतिपत्तिसात्म्यं–the object of all perceptions, ऐकात्म्य–one thought or नानात्म्य–of various nature, विकल्पजातं–group of thoughts.

At the time of getting wheel of energies, an aspirant digests everything. He digests death, time, the bundle of all activities, totality of all emotions, the object of all perceptions, one thought or many thoughts, because when an aspirant perceives something he becomes one with that and at that time he digests this whole thing

श्रीमत् वीरवलावपि–In Vīrāvalī also:-

यत्र सर्वेलयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसंचयाः।
तां चितिं पश्य कायस्थां कालानल समत्विषम्॥ इति॥

यत्र–where, सर्वे–everything, लयं यान्ति–is destroyed, दह्यन्ते–burnt to ashes, तत्त्वसंचयाः–all the thirty six elements, तां–that, चितिं–consciousness, पश्य–should be perceived, कायस्थां–in your own body, कालानल समत्विषं–which is just like the terrible fire.

Where everything is destroyed, all the thirtysix elements, are burnt to ashes, that consciousness should be perceived in your own body, which

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज

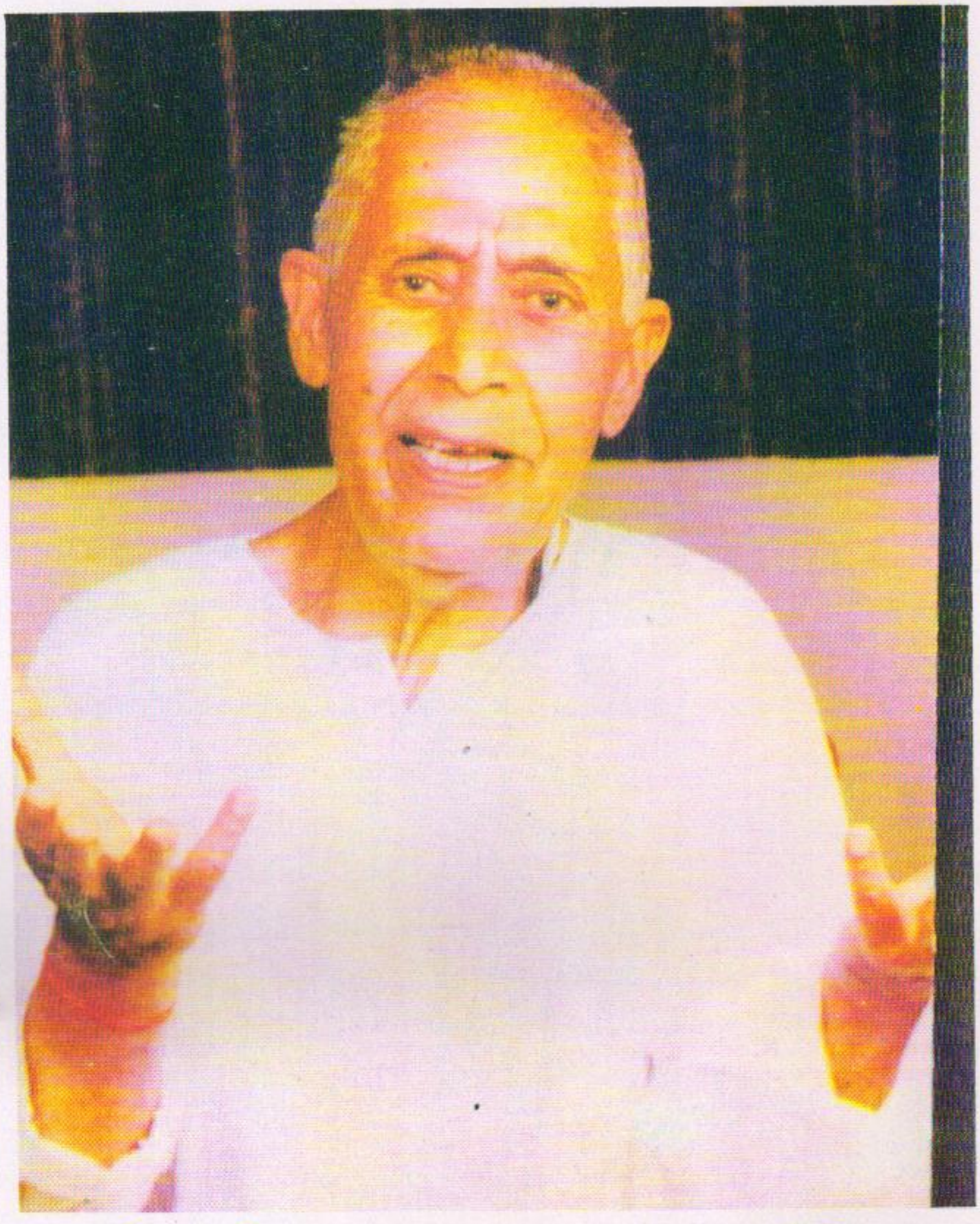

आविर्भावदिवस
9-5-1907

महासमाधिदिवस
27-9-1991

is just like the terrible fire. श्रीमन्मालिनी विजयेऽपि–In Mālinīvijaya Tantra also it is said:-

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशं आप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते।।

इत्युक्त्या एतदेव भङ्ग्या निरूपितम्।

उच्चाररहितं–which cannot he uttered by gross or subtle way of speech, चेतसैव–with one pointedness, विचिन्तयन्–contemplates that reality, यं समावेशं–which trance entry, आप्नोति–gets, शाक्तः–Śākta Samāveśa — absorption in divine consciousness by means of Śāktopāya, स–that, अत्राभिधीयते–is known as.

When an aspirant contemplates that Reality with one pointedness which cannot be uttered by gross or subtle way of speech, he gets trance entry in his nature and that entry, is called Śākta Samāveśa - absorption in divine consciousness by means of Śāktopāya.

इत्युक्त्या–by this narration, एतदेव–the same idea has been, भङ्ग्या–by another Śāstric procedure i.e. by Śāktopāya, निरूपितम्–ascertained

एतच्च सद्गुरुचरणोपासनया अभिव्यक्तिमायातीति नाधिकमुन्मीलितम्।

एतच्च–this, सद्गुरुचरणोपासनया–by serving the lotus feet of great master, अभिव्यक्तिमायाति–comes into experience, नाधिकं–not much, उन्मीलितं–has been explained here.

The same idea has been ascertained by another Śāstric procedure i.e. by way of Śāktopāya. This kind of contemplating power is obtained by serving the lotus feet of your spiritual master, so it is not explained much here.

एतदेव–

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्ति चक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः।। (स्पन्दकारिका १,१)
यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरोभवेत्।। (स्पन्दकारिका ३,१९)

इति च प्रथम चरमश्लोकाभ्यां संगृहीतम्।

Meaning— We offer our salutation to that Śamkara who is, the fountain head of all glory manifest in the wheel of energies and at whose waking and sleeping the world finds its rise and dissolution.

But when he gets established in the one principle, then he regulates dissolution and origination of the subtle body and gets the status of a real enjoyer and then becomes the lord of the wheel of energies.

एतदेव–the same idea has been, संगृहीतं–described, प्रथमचरमश्लोकाभ्यां–by means of the first and the last verses in Spanda Kārikā:-

एवं उपसंहृतविश्वस्य न समाधिव्युत्थानभेदः कोऽपि इत्याह–

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोग संभवः॥ ७॥

(Jāgratsvapnasuṣuptabhede turyābhoga sambhavaḥ)

एवं–thus, उपसंहृतविश्वस्य–to the individual in whom the world has been assimilated to the inner Śiva consciousness, न समाधि व्युत्थानभेदः कोऽपि–then difference in Samādhi and व्युत्थान–rising up from meditation does not arise. इत्याह–it is explained in the following Sūtras:-

जाग्रत्– the waking state of consciousness,

स्वप्न– the dreaming state of consciousness,

सुषुप्त– the profound sleeping state of consciousness

भेदे– in difference

तुर्या– the fourth state of consciousness,

आभोग– means चमत्कार–the joys, I consciousness of Śiva, **संभवः**–is everpresent in other three states, or **संभवः**–means coming into existence.

Thus when one is sentenced to one pointedness and in whom the world has been assimilated to the inner Śiva consciousness, then difference in Samādhi and rising up from Samādhi does not arise. It is not essential that one has unity-consciousness in Samādhi alone but in the worldly affairs also he is blessed with unity consciousness.

When in the differentiated state of Jāgrat (जाग्रत्), Svapna (स्वप्न) Suṣupta (सुषुप्त) expansive state of Turyā (तुर्या) is experienced by an aspirant then for him Jāgrat, Svapna and Suṣupta states are one because it holds together the consciousness of the other three states being an integral awareness.

समनन्तर निरूपयिष्यमाणानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां भेदे–नानारूपे–पृथक्त्वावभासे, "उद्यमो भैरवः" इति लक्षितस्य स्फुरत्तात्मनः सर्वदशानुस्यूतस्य तुर्यस्य य आभोगः–चमत्कारः, तस्य संभवः–नित्यमेव तुर्यचमत्कारमयत्वं प्रोक्तमहायोगयुक्तस्य भवतीत्यर्थः। किंचित् संभव इत्यत्र संवित् इति स्पष्टार्थं पठन्ति एतत् च

यथेन्दुः पुष्पसंकाशः समन्तादवभासते।
आह्लादन समूहेन जगत् आह्लादयेत् क्षणात्।।
तत् वत् देवि महायोगी यदा पर्यटते महीम्।
ज्ञानेन्दुकिरणैः सर्वैः जगत् चित्रं समस्तकम्।।

आह्लादयेत् समन्तात्तदवीच्यादि शिवान्तकम्।
इत्यादिना श्री चन्द्रज्ञाने जागरादौ तुर्याभोगमयत्वं महायोगिनो दर्शितम्।

स्पन्दे तु

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः।।

इति कारिकया संगृहीतम्॥ ७॥

समनन्तर निरूपयिष्यमाणानां–these three states which are to be explained in next Sūtra, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां भेदे नानारूपे पृथकत्वावभासे–in the differentiated states of these three by the means of उद्यमो भैरवः इति लक्षितस्य–indicated in the Sūtra 'udyamobhairavaḥ', स्फुरतात्मनः–which is a glow of the internal light, सर्वदशानुस्यूतस्य–when expansive state of तुर्या takes place in all the three states तुर्यस्य–of Turyā the fourth state of consciousness, यः–which, आभोगः–चमत्कारः–the Joyous experience, तस्यसंभवः नित्यमेव–abides permanently, in the Sādhaka तुर्यचमत्कारमयत्वं प्रोक्त महायोग युक्तस्य भवतीत्यर्थः–who is united with the Śiva consciousness, by the great yoga already described केचिद्–some, संभव इत्यत्र संवित् इति स्पष्टार्थं पठन्ति–read संवित् in place of संभव in that case the meaning would he that there abides the संवित् of the rapturous experience of I consciousness of the fourth state. एतत् च–also it has been, दर्शितं–shown in, श्रीचन्द्रज्ञाने–candrajñāna, इत्यादिना–in the verse यथेन्दुः etc., तुर्याभोगमयत्वं–that the Joyous experience of I-consciousness of the Turyā state, महायोगिनः–is present in the case of great yogi जागरादौ–in waking state etc.

यथेन्दुः–Just as the moon, पुष्पसंकाशः–pure like a flower, समन्तात्–all round, अवभासते–shines on the sky. आह्लादनसमूहेनजगत् आह्लादयेत् क्षणात्–in

one instant this whole universe gets purified with bliss–आनन्द तत्वत् देवि–in the same way O Devi!, महायोगी–this great योगी, यदा पर्यटते महीम्–when wanders in the world, ज्ञानेन्दु किरणैः–by the rays of his knowledge, सर्वं जगत्–whole world, चित्रं समस्तकं–the entire variegated, अवीच्यादि–from अवीची hell etc., शिवान्तकं–to Śiva, आह्लादयेत् समन्तात् तत्–the whole world is purified with bliss

स्पन्देतु–in Spandakārikā also, the same idea has been कारिकया संगृहीतम्–explained in the following verse जागरादि etc.

These three states are fully explained in next Sūtras. In different states of these three means when one aspirant who has got active meditation power (there are two kinds of meditation. One is active meditation and another is passive meditation. Active meditation is superior one and there is no, other thought, yawning, moving, etc. in it. Active way of meditation carries one to super state of consciousness. Passive way of meditation is inferior one. That is this also and that also. It is sheer waste of time and nothing else) This expansive state of Turyā takes place in all the three states. That happens to that yogi who is in great development of awareness. Some read संवित् in place of संभव. In that case meaning would he that there abides the संवित् of Joyous experience of I-consciousness of the fourth state. Also it has been shown in Śrī-candra Jñāna in the following verse that the joyous experience of I-consciousness of Turyā state is present in the case of great yogi, in waking state etc.

Just as the moon, pure like a flower, shines from all sides on the sky, in the same way in one instant this whole universe gets purified with bliss. O Devi! this great yogi when moves about in the world, gladdens all round with rays of his moonlike spiritual awareness, the whole variegated world from अवीची hell to Śiva.

In Spanda Kārikā also, the same idea has been explained in the following verse:-

Even though the stream of individual differentiation which in reality, is not separate from that principle of the states walking etc. is aflow, that principle never withdraws itself from its own nature of cognition.

The Secret Exposition of Amṛtesvara Bhairava Mantra

Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

Oṁ Jum Sah Amṛteśvara Bhairavāya namaḥ

1. ***Oṁ***

अन्तरालीन तत्त्वौघं चिदानन्दघनं महत्।
यत्तत्त्वं शैवधामाख्यं तदोमित्यभिधीयते॥
Antarālīna tattvaughaṁ cidānandaghanaṁ mahat
yattattvaṁ śaivadhāmākhyaṁ tadomityabhidhīyate

Oṁ- That being who has kept the 36 elements comprising the 118 worlds in his body, who is a compacted mass of consciousness and bliss and who is exceeding great, that being is said to be the nature of Lord Śiva, and that is Oṁ.

2. ***Jum***

तादृगात्म परामर्श शालिनी शक्तिरस्य या।
देशकालापरिच्छिन्ना सा जुं शब्देन कथ्यते॥
Tādṛgātma parāmarśa śālinī śaktirasya yā
deśakālāparicchinnā sā juṁ śabdena kathyate

Juṁ- The energy (śakti) of that Oṁ is glorified with the state of Lord Śiva. It is unlimited by time, space and form. This energy is indicated by the mantra "juṁ."

3. ***Sah***

सिसृक्षोल्लेखनिर्माण शक्तित्रितय निर्भरा।
जगतो येशिता शक्तिः सा स इत्युच्यते स्फुटम्॥
Sisṛkṣollekhanirmāṇa śaktitritaya nirbharā
jagato yeśitā śaktiḥ sā sa ityucyate sphuṭam

Saḥ- The energy of independence, svāntantrya śakti, which is comprised of the three energies; will, knowledge and action, finding expression as the desire to create, planning to create and the act of creation, rules over the 118 worlds. This is indicated by the mantra "saḥ".

4. ***Amṛteśvara***

स्वशक्त्यभिव्यक्तिमये मोक्षेऽस्यैश्वर्ययोगतः।
स्वोपासकानाममृतेश्वरत्वं तस्य सुस्फुटम्॥

Svaśaktyabhivyaktimaye mokṣe'syaiśvaryayogataḥ
svopāsakānāmamṛteśvaratvaṁ tasya susphuṭam

Amṛteśvara- Liberation- mokṣa, cannot be achieved simply by action or effort, Rather, it is only attained by those followers who are searching for the self and who are longing to achieve it. Only then will the free will of Lord Śiva transform you. This is the meaning of Amṛteśvara.

5. ***Bhairavāya***

नीलहर्षादिभेदेन यत् बाह्याभ्यन्तरं जगत्।
अहमित्यामृशन् पूर्णो भैरवः समुदाहृतः॥

Nīlaharṣādibhedena yadbāhyābhyantaraṁ jagat
ahamityāmṛśan pūrṇo bhairavaḥ samudāhṛtaḥ

Bhairavaḥ- When he has established himself in his own real nature in the state of one pointed internal self awareness, then he must come out and experience that same glamour in both the internal mental and the external objective worlds. Blessed by Amṛteśvara, he will experience, "I am this, I am this internal world of objects and I am this external world of objects. There is no other element than myself." This is the meaning of Bhairava.

6. ***Namaḥ***

देहप्राणसुखादीनां न्यग्भावात् भक्तसंहतेः।
या चिदात्मनि विश्रान्तिर्नमः शब्देन सोच्यते॥

Dehaprāṇasukhādīnāṁ nyagbhāvāt bhaktasaṁhateḥ
yā cidātmani viśrāntirnamaḥ śabdena socyate

Namaḥ- What does it mean to say, "I bow to Bhairava?" Real bowing is to drive this physical body, this whole universe which is existing in the outside world, into the internal world, which is also a body, the subtle body, the body governing the dreaming state. Then, in turn, this subtle must be pushed into that subtler and more refined state, the body of dreamless sleep. And ultimately all these bodies are driven inside the body of consciousness. This is real bowing and this is the meaning of namaskāra.

7. त्रयीसप्तचतुर्युग्ममये त्रितयवर्त्मनि।
स्थितो यः शक्तिसहितः स जयत्यमृतेश्वरः॥
Trayīsaptacaturyugmamaye tritayavartmani
sthito yaḥ śaktisahitaḥ sa jayatyamṛteśvaraḥ

Glory be to that Amṛteśvara who is established in this threefold way; in the first three short vowels, in the seven long vowels, and in the pair of vowels, the two vowels, along with his energies, his thirty-four śaktis which are the thirty-four consonants.

8. आत्मेन्दुधामनि युगेश नरेश पुत्र
चित्रां त्रिशूलबिलधामनि सृष्टि शक्तिम्।
वैसर्गिके चितिपदेऽप्यथ पुण्डरीकां
कांचित् परां त्रिकपरां प्रणमामिदेवीम्॥
Ātmendudhāmani yugeśanareśaputra-
citrāṁ triśūlabiladhāmani sṛṣṭi śaktim
vaisargike citipade'pyatha puṇḍarīkāṁ
kāñcit parāṁ trikaparāṁ praṇamāmi devīm

I bow before the Goddess Amṛteśvarī whose real body is parābīja, the mantra "sauḥ". It is the body where she has created her energies supreme, medium, and inferior. In inferior state of energy taking the form of nara (individual), corresponding to the moon and to the objective world, she has differentiated her form in four plus eleven plus sixteen ways, or thirty one ways, from the element pṛthvī (earth) to māyā and this corresponds to the letter "sa". In the medium energy icchā śakti (sadāśiva), jñāna śakti (īśvara), and kriyā śakti (śuddhavidyā) are existing simultaneously that is called triśūla and it corresponds to the letter "au". In the supreme energy exists the residence of "citipada," the seat of Lord Śiva. This corresponds to the last letter visarga "ḥ". Here both Śiva and Śakti exist together, indistinguishably interwoven one in another.

9. श्रीमत्सदाशिव पदेऽपि महोग्रकाली
भीमोत्कटभ्रकुटिरेष्यति भंगभूमिः।
इत्याकलय्य परमां स्थितिमेत्य काल-
संकर्षिणीं भगवतीं हठतोऽधितिष्ठेत्॥

Śrīmatsadāśiva pade'pi mahograkālī
bhīmotkaṭabhrakuṭireṣyati bhaṅgabhūmiḥ
ityākalayya paramāṁ sthitimetya kāla-
sankarṣiṇīṁ bhagavatīṁ haṭhato'dhitiṣṭhet

Kālī, even while in the glorious state of Sadāśiva, becoming extremely terrifying and forceful, attains the ultimate state of dissolution. The aspirant, experiencing this transcedental Kālī, should forcefully enter into and attain that state of Kālī.

10. **तन्मध्ये तु परादेवी दक्षिणे च पराऽपरा।**
अपरा वामशृङ्गे तु मध्यशृङ्गोर्ध्वतः शृणु॥
या सा संकर्षिणी काली परातीता व्यवस्थिता॥
tanmadhye tu parādevī dakṣiṇe ca parā'parā
aparā vāmaśṛṅge tu madhyaśṛṅgo'rdhvataḥ śṛṇu
yā sā samkarṣiṇī kālī parātītā vyavasthitā

In the central spoke of triśūla, Lord Śiva's trident, is the establishment of parā (supreme) śakti. On the right side of the triśūla is the establishment of parā-parā (medium) śakti. On the left side of the triśūla is the establishment of aparā (inferior) śakti. Above this central spoke parā (supreme) Śakti is Samkarṣiṇī Kālī, the Divine Goddess Kālī Amṛteśvarī.

to be continued

(Courtesy from John Hughes)

वासना एव संसार इति सर्वा विमृञ्च ताः।
तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा॥
Desire alone is saṁsāra; therefore renounce all desires. The removal of saṁsāra is through renunciation of desires; now you may live as you like.

Abhinavagupta's

ANUTTARĀṢṬIKĀ

Eight Verses on the Unsurpassable

Translation and commentary by
Dr. Bettina Baumer

अनुत्तराष्टिका

संक्रामोऽत्र न भावना न च कथायुक्तिर्न चर्चा न च
ध्यानं वा न च धारणा न च जपाभ्यासप्रयासो न च।
तत्किं नाम सुनिश्चितं वद परं सत्यं च तच्छ्रूयतां
न त्यागी न परिग्रही भज सुखं सर्वं यथावस्थितः॥१॥

There is no need of spiritual progress,
nor of contemplation, disputation or discussion,
nor meditation, concentration nor even the effort of prayer.
Please tell me clearly: What is supreme Truth?
Listen: Neither renounce nor possess anything,
share in the joy of the total Reality
and be as you are!

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा गृहाण विहर स्वस्थो यथावस्थितः॥ २॥

In reality no world of transmigration exists,
so how can one talk about `humans in bondage'?
To try to liberate one free already
is futile, for he was never in bondage.
All this just creates a delusion like that
of the shadow of a ghost or a rope mistaken for a snake.
So neither renounce nor possess anything.
Enjoy yourself freely, resting in your self,
just as you are!

पूजापूजकपूज्यभेदसरणिः केयं कथानुत्तरे
संक्रामः किल कस्य केन विदधे को वा प्रवेशक्रमः।
मायेयं न चिदद्वयात्परतया भिन्नाप्यहो वर्तते
सर्वं स्वानुभवस्वभावविमलं चिन्तां वृथा मा कृथाः॥ ३॥

What words can describe the Unsurpassable? In the Absolute
can there be any distinction between the worship,
the one who worships and the object of worship.
How and in whom can there be spiritual progress?
What are the degrees of absorption?
Illusion itself is ultimately the same
as non-dual Consciousness, all being the pure
nature of the Self, experienced by oneself-
so have no vain anxiety!

आनन्दोऽत्र न वित्तमद्यमदवन्नैवाङ्गनासङ्गवत्
दीपार्केन्दुकृतप्रभाप्रकरवन् नैव प्रकाशोदयः।
हर्षः संभृतभेदमुक्तिसुखभूर्भारावतारोपमः
सर्वाद्वैतपदस्य विस्मृतनिधेः प्राप्तिः प्रकाशोदयः॥ ४॥

This bliss is not comparable to that which is experienced
through riches or wine or even union with the beloved.
The dawning of that Light is not to be compared
with the light of a lamp or that of sun or moon.
The joy that is felt when one is freed from the burden
of accumulated differences[1] can only be compared
to the relief felt while setting on the ground a heavy weight.
The dawning of the Light is like finding a lost treasure,
the state of universal non-duality.

रागद्वेषसुखासुखोदयलयाहंकारदैन्यादयो
ये भावाः प्रविभान्ति विश्ववपुषो भिन्नस्वभावा न ते।
व्यक्तिं पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तत्तदेकात्मता-
संविद्रूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावनानिर्भरः॥ ५॥

All states of mind like love and hatred, pleasure and pain,
arising and disappearing, to you appear distinct.
They are, however, part of the universal body,

their nature is not separate. Whenever you observe
any one of them arising, at once become aware
of their oneness: contemplate in them the form of pure Conscious
ness.
Filled with this contemplation, will you not experience joy?

पूर्वाभावभवक्रिया हि सहसा भावाः सदाऽस्मिन्भवे
मध्याकारविकारसङ्करवतां तेषां कुतः सत्यता।
निःसत्ये चपले प्रपंचनिचये स्वप्नभ्रमे पेशले
शङ्कातङ्ककलङ्कयुक्तिकलनातीतः प्रबुद्धो भव॥ ६॥

The non-existent suddenly is brought into existence;
such are always the states of being in this world.
How, being intermingled due to deformation
of the intermediate state, can they possess any reality?
How find reality in the unreal, unstable,
in multiplicity of worldly things, a dream's confusion
or in deceptive beauty? Transcend the impurity
that causes doubt and fear and awaken!

भावानां न समुद्भवोऽस्ति सहजस्त्वद्भाविता भान्त्यमी
निःसत्या अपि सत्यतामनुभवभ्रान्त्या भजन्ति क्षणम्।
त्वत्संकल्पज एष विश्वमहिमा नास्त्यस्य जन्मान्यतः
तस्मात्त्वं विभवेन भासि भुवनेष्वेकोप्यनेकात्मकः॥ ७॥

It is not the Innate Being that gives rise to these various
states. They appear, created by you. Though unreal,
they become real through a momentary confused perception.
The glory of this universe is born from your will.
It has no other origin. Therefore your glory
shines in all the worlds. Though one You have many forms.

यत्सत्यं यदसत्यमल्पबहुलं नित्यं न नित्यं च यत्
यन्मायामलिनं दयात्मविमलं चिद्दर्पणे राजते[1]।
तत्सर्वं स्वविमर्शसंविदुदयाद् रूपप्रकाशात्मकं
ज्ञात्वा स्वानुभवाधिरूढमहिमा विश्वेश्वरत्वं भज॥ ८॥

---

1. Bheda: divisions, separation, duality.

Both the real and the unreal, the simple and the complex,
the eternal and the temporal, that which, due to illusion,
is impure and also the purity of the Self-
all shine in the mirror of Consciousness. All this
is seen as having the nature of pure light,
as consciousness arises in self-awareness.
Recognising your glory rooted in your own experience,
share in the universal power of the Lord!

इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादैर्विरचितानुत्तराष्टिका समाप्ता।

Commentary[1]

Anuttara, the Unsurpassable, Transcendent, Ultimate or Absolute is neither the object of devotion of this mystical Stotra, nor is it described philosophically. Rather, Abhinavagupta is moving here in a mystical state which can only be described negatively as ``that which has nothing beyond it", *anuttara.* The word occurs only once, in verse 3, and there too it is called indescribable. In fact, it is not surprising that Abhinavagupta gives as many as 16 definitions of the word *anuttara* in his Parātrīśikā Vivaraṇa on the very first verse of the Tantra.

In his Stotras he is free from any literary, devotional or philosophical restrictions and he allows his mystical inspiration a free flow. Here he describes both the highest state possible to be reached by a spiritual being, and he instructs his most advanced disciples in experiencing such a state. The first three verses and verses 5 and 6 end with a personal address which can go directly to the heart of the disciple/listener/reader. Only a Master like Abhinavagupta can utter such mystical instructions, and only advanced disciples can receive them. He removes their doubts and worries.

In the case of immature disciples these instructions could prove dangerous, since they negate everything that belongs to spiritual practice: meditation *(dhyāna),* contemplation *(bhāvanā),* reflection or discussion *(carcā),* concentration *(dhāraṇā)* or recitation of mantras *(japa)* (verse 1). The very idea of moving on a spiritual path and progressing on it is denied

---

1. Abhinavagupta's Stotras have been translated and commented upon in French by Lilian Silburn and in German by myself.

(*saṃkrāma,* verses 1 and 3). For spiritual practice only has meaning if there is a state of bondage from which one wants to be liberated (verse 2), but Abhinavagupta denies that ultimately such a bondage exists. And if there is no bondage in *saṃsāra,* what is the use of the action of liberation? What is then to be done?

Nothing, for every action, practice or effort is only a sign of the limited being and is not fit for the *anuttara.* Thus both acts or attitudes have to be abandoned: renunciation and possession *(na tyāgī na parigrahī,* verse 1, *mā kiṃcit tyaja mā gṛhāṇa,* verse2). What remains then? The joy of being as one is and having a share in the totality. Not by chance Abhinavagupta uses the imperative *bhaja* in the first and last verse, because the one who is established in his nature state (*sahaja,* verse 7) shares in the divinity, in universality and universal lordship (*viśveśvaratvam,* verse 8). The injunction ``be as you are'' is not an invitation to egoism, but a reminder of our Divine and universal nature.

What is it then that separates us from this spontaneous state of being if there is no bondage in reality? It is only the illusion of not being free already, but an illusion which is not substantial, which is nothing but the shadow of a ghost (verse 2). But since illusion has no independent reality, it is also ultimately not different from non-dual Consciousness. Therefore even the fear of being in illusion has no basis and one should be free from the worry of not having realized one's true nature (verse 3). Nothing could be more liberating to the troubled mind but these condensed verses.

What Abhinavagupta says here in very personal terms is expressed more theologically in the Spanda Kārikā:

"Inasmuch as nothing can veil His nature, there cannot be any obstruction of his in whom all this world rests and from whom it has come forth." (I.2)

In his Parātrīśikā Vivaraṇa, he comments on this: "Even if He (Śiva) is supposed to be obstructed by a cover, He still shines by His freedom in the form of that cover itself, and thus the Lord is always of the nature of knowledge and activity." (transl. Jaideva Singh, p.79).

Therefore Abhinavagupta concludes in the last verse (8) that every-

thing, even the so-called impure, the temporal, illusory and unreal, belongs to the one, pure light of Consciousness. It is Consciousness alone which creates all these states and conditions, and one should see only its glory shining in everything (verse 7).

But is there a way of piercing through this veil and discovering its oneness with universal Consciousness? Starting from the ordinary experience of the disciple which is always an experience of dualities, like pleasure and pain, love and hatred, Abhinavagupta points out a very subtle method in verse 5:

Since all the opposite mental states are aspects of the same Consciousness, one should fix one's awareness on the moment of arising of any emotion or experience.

By catching hold of this initial moment, called *prathamakoṭi,* one enters into the oneness of Consciousness. In this way one experiences a bliss and freedom which cannot be compared with any worldly joy (verse 4).

If there has been any burden, it was the burden of separation, of living in duality and fragmentation *(bheda),* but the moment one is freed from this, there is a relief as by putting down a heavy load from one's head. This is a moment of enlightenment, like finding of a lost treasure, the treasure of the non-dual state (verse 4).

This awakening to one's own original glory makes one share in the universal Divine Power *(viśveśvaratva,* verse 8).

Thus the entire hymn glorifies the unsurpassable state - *anuttara* - and leads the disciple from duality to non-duality. By the powerful expression of pure spontaneity Abhinavagupta achieves a liberating effect.

SADGURU AṢṬOTTARAŚATA NĀMĀVALĪ

Composed by
Prof. Makhan Lal Kukiloo
Translated by Sh. Samvit Prakash Dhar

Continued from last issue.

५५. सर्वज्ञरूपाय च निष्क्रियाय
तुभ्यं नमामि गुरु लक्ष्मणाय
(Sarvajña rūpāya ca niṣkriyāya
Tubhyam namāmi Guru Lakṣmaṇāya)

Embodiment of omniscence, free from the yoke of doership, To seek thy favour I offer my
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५६. चिति स्वरूपाय तमोपहाय
(Citi[1] Svarūpāya tamopahāya)

Thou art the absolute Consciousness or the universal Consciousness, dispeller of darkness of three malas, namely Āṇava, māyīya and Kārma malas.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५७. आबालवृद्धान्त प्रियंकराय
(Ābāla vrddhānta priyamkarāya)

From simple and ignorant ones to matured ones or from little kids to aged persons thou art endeering to all.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

५८. जन्मोत्सवे सर्वधनप्रदाय
(Janmotsave sarvadhanapradāya)

On thy birthday thou art the bestower of all forms of gifts and the wealth of supreme bliss.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

---

6. Citi is the consciousness - power of the Absolute that brings about the world process. (Jaideva Singh)

५९. षडर्धशास्त्रस्य च सारदाय
(Ṣaḍardha śāstrasya ca sāradāya)

Expounder of the essence of Trika scriptures
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६०. अध्वा अतीताय सर्वान्तगाय
(Adhvā atītāya sarvāntagāya)

Far beyond the reach through six standard pathways[7], yet abiding in all the beings.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६१. शेषस्वरूपाय सदातनाय
(Śeṣasvarūpāya sadātanāya)

Incarnate of Lord Śeṣa (because Lakṣmaṇa is considered an incarnate of Śeṣa Nāga), Eternal Thou art.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६२. प्रकाशपुञ्जाय सुशीतलाय
(Prakāśapuñjāya suśītalāya)

Though mass of Effulgence, Yet soothingly cool.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६३. निरामयाय द्विजवल्लभाय
(Nirāmayāya dvijavallabhāya)

Beyond the province of Māyā Thou art, dear to twice-born i.e. initiated ones
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६४. कालाग्निरुद्राय महाशनाय
(Kālāgnirudrāya mahāśanāya)

Kālāgni Rudra[8], the burning light thou art leaving no impression as separate by bringing it to sameness with the self.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

---

7. Six standard pathways are भुवनाध्वा, तत्त्वाध्वा, कलाध्वा, मत्राध्वा, पदाध्वा and वर्णाध्वा.
8. Place of Kālāgni Rudra in human body is the toe of the right foot.

६५. अभ्यासलीनाय सदोदिताय
(Abhyāsalīnāya sadoditāya)

Immersed in contemplation thou art ever risen, ever existant.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६६. त्रिवर्गदात्रे त्रिगुणात्मकाय
(Trivargadātre triguṇātmakāya)

Though the giver of trivarga, i.e. Dharma, artha and mokṣa, you are the embodiment of three guṇas namly Sattva, Rajas and tamas, the chief characteristics of Prakriti.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६७. प्रज्ञानरूपाय अनुत्तमाय
(Prajñānarūpāya Anuttamāya)

Embodiment of Super light consciousness, the highest, the Supreme, the Absolute You are
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६८. ईशानदेवाय मयस्कराय
(Īśānadevāya mayaskarāya)

As Lord Īśāna, (the first inner Śakti of Lord Śiva expounding Śaiva Āgamas) Thou confer directly happiness in this world and hereafter.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

६९. कान्ताय त्रिस्थाय मनोमयाय
(Kāntāya tristhāya manomayāya)

Beautiful One, indweller of three states of परा, परापरा, अपरा or प्राण अपान and सुषुम्ना there is identity with that incomparable bliss.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७०. हृत्पद्मतुल्याय मृगेक्षणाय
(Hṛtpadmatulyāya mṛgekṣaṇāya)

Identical with the lotus of the heart and gifted with deer-like charming eyes.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७१. सर्वार्थदात्रेऽपि दिगम्बराय

(Sarvārthadātre'pi digambarāya)

Bestower of all kinds of prosperity, perpetually naked[9] though You are.

Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७२. तेजस्स्वरूपाय गुरवे शिवाय

(Tejassvarūpāya Gurave Śivāya)

Luminous One, O Master Thou art the very Śiva.

Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७३. कृतागसां द्राक् अघदाहकाय

(Kṛtāgasām drāk aghadāhakāya)

Destroyer of irredeemable sins instantly to those who are involved in sinful deeds.

Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७४. बालार्कतुल्याय समुज्वलाय

(Bālārkatulyāya samujvalāya)

Shining with full glory like the rising sun.

Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७५. सिन्दूरलाक्षारुण आननाय

(Sindūralākṣāruṇa ānanāya)

With face glowing as vermilion, and resembling the red lac you represent your Śakti (energy) too.

Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७६. सर्वात्मदेवाय अनाकुलाय

(Sarvātmadevāya anākulāya)

The very Self of everything yet transcending classification.

Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

---

9. The epithet Digamber in the original śloka conveys Śiva's garments comprising the ten directions of space.

७७. मातृ प्रमेय प्रमाणमयाय

(Mātṛ prameya pramāṇamayāya)

The ensemble of subjective, cognitive and objective consciousness.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७८. रसाधिपत्याय रहःस्थिताय

(Rasādhipatyāya rahaḥsthitāya)

Though thou art the lord of the universe yet you prefer to remain aloof.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

७९. उपमाविहीनाय उपमाधराय

(Upamāvihīnāya upamādharāya)

You are beyond the field of similies yet all similies are possessed by you.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८०. स्वातन्त्र्यरूपाय स्पन्दात्मकाय

(Svātantryarūpāya spandātmakāya)

Thou art embodiment of Svātantrya— the indominable free will, and Spanda - creative pulsation.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८१. अभिनवगुप्ताय काश्मीरिकाय

(Abhinavaguptāya Kāśmīrikāya)

Incarnate of Abinavagupta of Kashmir
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८२. संकोचशून्याय विभूतिदाय

(Samkocaśūnyāya vibhūtidāya)

Void of all limitations, and Giver of all glory.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८३. स्वानन्द लीलोत्सव संरताय

(Svānanda līlotsava samratāya)

Engrossed in the self-enacted sport of joy.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८४. मालिनी स्वरूपाय मातृकात्मकाय
(Mālinī svarūpāya Mātṛkātmakāya)
Embodiment of Mālinī and Mātṛkā[10].
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८५. धर्मपद दर्शन दीपकाय
(Dharmapada darśana dīpakāya)
Thou art the lamp that lights up the path of duty.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८६. सायुज्यदात्रे परभैरवाय
(Sāyujyadātre parabhairavāya)
Bestower of oneness with Thy Self Thou art Embodiment of Para Bhairava.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८७. पादाब्जदीप्त्याऽपहतमलाय
(Pādābjadīptyā'pahatamalāya)
Destroyer of all three impurities[11] with the mere glow of Thy Lotus Feet.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८८. समस्तदैन्यादि विनाशकाय
(Samastadainyādi vināśakāya)
You destroy all kinds of limitations, such as sense of dependence and the like.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

८९. महेश्वराय जगदीश्वराय
(Maheśvarāya Jagadīśvarāya)
The Greatest Lord of all, Master of the phenomenal world.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

---

10. Mālinī-नादि फान्ता मालिनी– the letters arranged in an irregular form from 'न' to 'फ' and this Śakti of letters keep within itself the whole universe. It is called मालिनी मातृका– Mother, the Parāvāk Śakti that manifests this universe. The letter and word power supposed to be the basis of all knowledge, ज्ञानाधिष्ठानँ मातृका– Śiva Sūtra.
11. Namely, aṇava, māyīya and kārma.

१०. खस्थाय स्वस्थाय निरंजनाय
(Khasthāya svasthāya niramjanāya)

Established in the ether of consciousness, perpetually residing in the Self, You are taintless
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

११. विज्ञान ज्ञानाम्बुभिः शान्तिदाय
(Vijñāna jñānāmbubhiḥ śāntidāya)

Giver of eternal peace by sprinkling with knowledge of Brahma and His multifarious activities.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१२. गुरवे मदीयाय मोक्षप्रदाय
(Gurave madīyāya mokṣapradāya)

My Master, Giver of Mokṣa, a correct knowledge of the true nature of the self.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१३. शिवावताराय च दैशिकाय
(Śivāvatārāya ca daiśikāya)

Precept perfect, Lord Siva incarnate.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१४. अनादिबोधाय संवित्घनाय
(Anādibodhāya samvitghanāya)

Primal source, Mass of Supreme Consciousness.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१५. आचार्य शंकरगिरेः शिवाय
(Ācārya Śamkaragireḥ Śivāya)

You are Śiva personified of Shankara Carya Hill.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१६. परभैरवधाम्नि कृत संश्रयाय
(Parabhairava dhāmnikṛta samśrayāya)

Para Bhairava dham[12] is Thy eternal abode.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

९७. भैरवरूपाय श्रीलक्ष्मणाय

(Bhairavarūpaya Śrī Lakṣmaṇāya)

Embodiment of Bhairava, Śrī Lakṣmaṇa Thou art
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

९८. खेदिग्गोभूवर्ग चक्रेश्वराय

(Khediggobhūvarga cakreśvarāya)

Lord of the Wheel of Presiding Deities that reign over the ether of consciousness (khe[13]), ten directions (dika) and the organs of cognition (go) and the animate world (bhū). Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo.

९९. स्वच्छन्दनाथाय ममपालकाय

(Svacchandanāthāya mamapālakāya)

O Svacchandanātha, (Lord Śiva, having five faces of Cita, Ānanda, Iccha, Jñāna, and Kriyā is called Svacchandanātha, with his eighteen arms, He is ever ready to protect us when implored) my Protector
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१००. अमृतद्रवाय अमृतेश्वराय

(Amṛtadravāya Amṛteśvarāya)

Saturated with divine nectar, You verily are Amṛteśvara, the lord of the nectar of liberation.
Obeisance to You, Guru Laksmana Joo

---

12. The throne of Para Bhairava, an octagonal wooden structure constructed on the premises of the Ishwar Ashram in the year 1988 by Svāmī Jī Mahārāj
13. Khe, an abbreviation of khechari, is the subjective power of Pramata; Dika, an abbreviation of dikacari, is the locomotional power relating to the five bahiṣkaraṇas (organs of action); Go, an abbreviation of gocari, represents the cognitive power in respect of five antahkaraṇas; Bhu, an abbreviation of bhūcari, is the power connected with the phenomenal world of bhāvas (physical objects of prameya varga). From the micro cosmic point of view this consists of the internal and external senses.

१०१. यज्ञस्वरूपाय फलप्रदाय

(Yajñasvarūpāya phalapradāya)

You are of the form of sacrifical fire and also bestower of the fruits thereof.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१०२. नानदत्त आत्रेय पुत्रीसुताय

(Nānadatta Ātreya putrīsutāya)

Śrī Nāna Datta of Ātreya lineage was your maternal grandfather.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१०३. सत्याय नीलोत्पल लोचनाय

(Satyāya nīlotpala locanāya)

Truth personified, Your eyes resemble blue lotuses.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१०४. भवाब्धिपोताय सुरेश्वराय

(Bhavābdhipotāya Sureśvarāya)

Being Sureśvara[14]-Lord of the Gods, Thou art Ship for the ocean of the phenomenal world.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१०५. शिव स्वभावं ददते नराय

(Śiva svabhāvam dadate narāya)

Bestower of Sivahood to ordinary mortals - the bound Souls.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१०६. विद्याशरीराय विद्यार्णवाय

(Vidyāśarīrāya vidyārṇavāya)

---

14. Sureśvara—A famous cave, where the oldest Śiva Liṅga exists at a hill top of ज़्यवन (Jyavana is a place near by Pampore, Kashmir some 25 kms. away from Srinagar) is known as सुरेश्वर–Sureśvara Guphā. People of all faiths visit this cave temple in the month of July/August on Āṣāḍa/Śrāvaṇa Pūrṇimā. It is said that mere Darśana - glance, of this self existant antique cave liṅga of Śiva is purifier and liberates from the bondage of this world.

Knowledge comprises thy body, Ocean of Knowledge You are.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१०७. मूर्धन्यदेवाय सकलप्रदाय

(Mūrdhanyadevāya sakalapradāya)

Prominent among all Gods, Giver of all boons.
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

१०८. योगीन्द्रनाथाय सदाशिवाय

(Yogīndranāthāya Sadāśivāya)

Refuge of all Yogis, Sadā-Śiva Thou art
Obeisance to You, Guru Lakṣmaṇa Joo

यः पठेत् प्रयतो भक्तः जपेत् वा गुरुसन्निधौ।
गुरोः नामावली नित्यं गुरुस्तस्मै प्रसीदति॥

(Yaḥ paṭhet prayato bhaktaḥ japet vā Gurusannidhou
Guroḥ nāmāvalī nityam Gurustasmai prasīdati)

गुरोर्माहात्म्य मालेयं सर्वताप निवारिका।
गुम्फिता गुरुदासेन पिकेन ह्यनुरोधतः॥

(Gurormāhātmya māleyam sarvatāpanīvārikā
Gumphitā Gurudāsena pikena hyanurodhataḥ

Those who everyday recite this hymn called "Guru Nāmāvalī" with concentration or performing japa thereof in offering to the Master, will indeed earn Guru's blessing. The greatness of this hymn relieves one of all afflictions. This hymn, Guru Nāmāvalī, has been composed by Sri Makhan Lal Kukiloo on the request of his fellow devotees.
December 3, 1996

'श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रह' पर एक विहंगम दृष्टि

सुश्री प्रभादेवी

मालिनी के गतांक में हमने तन्त्रालोक के पांचवें आह्निक के कतिपय श्लोकों पर गुरुवाणी के आधार को लेकर प्रकाश डाला था। आणवोपाय का यह विषय साधकों के लिए उपयोगी होने पर भी जिज्ञासु शिष्यों के लिए दुरूह अवश्य है। अतः इस अंक में हम श्रीमद्गीतार्थसंग्रह में वर्णित श्री अभिनवगुप्त जी की पैनी तथा मार्मिक रहस्यपूर्ण भावों की प्रत्यभिज्ञा करवाकर इस लेख का प्रारम्भ करते हैं:–

भगवान् अभिनव जी ने गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक संग्रह-श्लोक लिख कर सम्पूर्ण गीता जी में चार चांद लगा दिये हैं। दो लाइनों के श्लोक में ही त्रिकशास्त्र के सिद्धान्त की गुत्थी को खोलकर रख दिया है। ऐतिहासिक गाथा को भी अभ्यास परक बनाकर मुमुक्षुओं के लिए साधना का सहज मार्ग स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है। प्रथम अध्याय में ही कौरवों को ममता-मूर्ति अविद्या पुरुष और पांडवों को ममतारहित शुद्धविद्या पुरुष कहकर इन्हें संकल्प-विकल्पों के पारस्परिक युद्ध का द्योतक कहा है। प्रथम अध्याय का संग्रह-श्लोक यह है:–

विद्याविद्योभयाघातसंघट्ट विवशीकृतः।
युक्त्या द्वयमपि त्यक्त्वा निर्विवेको भवेन्मुनिः।।

विद्या और अविद्या दोनों के चक्कर में उलझा हुआ साधक विवश बन कर गुरु युक्ति-पूर्वक दोनों से न्यारा होकर विवेक-विकल्पों तथा संकल्पों से मुक्त होकर निर्विकल्प धाम में प्रविष्ट होता है।

इस अन्तिम सार श्लोक का बार-बार मनन करते रहिये। अभ्यास में दृढ़ता होगी और एकाग्रता की नींव जमने लगेगी।

दूसरी अध्याय का संग्रह श्लोक यह रहा:–

अहो नु चेतसश्चित्रा गतिस्त्यागेन यत्किल।
आरोहत्येव विषयाञ्छ्यंस्तांतु परित्यजेत्।।

इस मन की गति भी विचित्र है। विषयों का त्याग करने से यह विषयों का (मन ही मन) भोग कराता है। (और इधर) विषयों का सेवन करते हुए (उनका) त्याग कर देता है।

ऊपर वर्णित श्लोक अनुभवपरक है। जीव, जब पूर्ण रूप से विषय भोगते-भोगते ऊब जाता है तो वह स्वभावतः विषयों से पराङ्मुख होकर सामान्य स्थिति में रहना चाहता है। इस स्थिति में आने के लिए वह मार्ग ढूंढता है। भगवत् अनुकंपा से उसे गुरुजनों से संपर्क हो जाता है और वे उसे पारमार्थिक मार्ग का प्रदर्शन करा देते हैं।

तीसरी अध्याय का संग्रह श्लोक देखिये–

धनानि दारान्देहं च योऽन्यत्वेना धिगच्छति।
किं नाम तस्य कुर्वन्ति क्रोधाद्याश्चित्त विभ्रमाः।।

जो व्यक्ति धन, स्त्री और अपने शरीर को भी (आत्मा) से अन्य भिन्न ही मानता है, ऐसे व्यक्ति को क्रोध आदि मन के विकार भला क्या बिगाड़ सकते हैं।

तीसरी अध्याय के अन्तिम श्लोक को समक्ष रखकर ही श्री अभिनवगुप्त जी ने ऊपर वर्णित संग्रह श्लोक लिखा है। भगवान कहते हैं:–

एवं बुद्धेः परं बुद्धवा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। ३-४८।।

इस प्रकार बुद्धि से अन्य-सूक्ष्म अपनी आत्मा को जानकर (और) आत्मा ही के द्वारा आत्मा को स्थिर करके-एकाग्र बनकर हे अर्जुन जीतने में अति कठिन कामरूपी शत्रु को मार डालो–इसे अपने अधीन करो।

रहस्य के जानने वालों का तो यह आशय है–जो बुद्धि से भी परे है उसे परम अहंकार–पूर्णाहन्ता कहते हैं। यही १०८वां तत्त्व है जो विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है। "मैं ही यह सारा जगत् हूं" इस प्रकार जो अहंभाव है, वही तो पूर्ण अहन्ता रूप अभेद की अवस्था है। परिपूर्ण स्वरूप वाले मुमुक्षु के मन में भेद-प्रथा न होने से क्रोध आदि विकार उत्पन्न ही नहीं होते। अतः अति उच्च जो पर अहंकार है वही पूर्णाहन्ता है उसका उत्साह-पूर्वक पल्ला पकड़ने से अविद्या रूप काम-क्रोधादि शत्रु को समाप्त करो तब जाके पारमार्थिक कल्याण होगा।

चौथी अध्याय का अन्तिम श्लोक यह है:–

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैवं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। ४-४२।।

इसलिए, हे अर्जुन! अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय में ठहरे हुए अपने संदेह को इस प्रकार ज्ञान की तलवार से काट कर योग में जुट जाओ। (अपना कर्त्तव्य निभाने के लिये) खड़े हो जाओ।

संशयों को काट कर कही हुई रीति से, कर्मों के करने में सजग रहना ही जो पटुता है, उसी योग में ठहरो। इसके बाद खड़े हो जाओ। अपना काम तुम कर्त्तव्य जानकर ही करो।

इस अध्याय का संग्रहश्लोक यह रहा–

विधत्ते कर्म यत्किंचिदक्षेच्छामात्रपूर्वकम्।
तेनैष शुभभाजः स्युस्तृप्तः करणदेवताः॥

इन्द्रियों के इच्छानुसार जो भी कोई कर्म किया जाए, उन्हीं कर्मों का अनुसरण करने पर तृप्त बनी हुई इन्द्रिय देवियां, मोक्ष रूप कल्याण को प्राप्त करें।

तनिक इस ऊपर वर्णित श्लोक पर ध्यान दें। त्रिक्शास्त्र के सिद्धान्त हमें बाहिरी त्याग करके मिथ्याचार में नहीं जुटाते अपितु इन्द्रियों की सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करते हुए सजग रहकर ध्येयाकार बनने की ओर अग्रसर करते रहते हैं। इन्द्रियों को भ्रामक न कहकर इन्हें देवी या देवता से विभूषित करके इनके द्वारा सभी भोग भोगकर स्वात्मानन्द में विचरण करने का सुझाव देते रहते हैं।

पांचवीं अध्याय के अन्तिम दो श्लोक देखिये–

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ ५-२८॥

जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीता हो (ऐसा) मोक्ष की प्राप्ति में लगा हुआ योगी, इच्छा, भय और क्रोध से छूटा हुआ है। वह (तो) सदा व्यवहार करता हुआ भी मुक्त ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ ५-२९॥

सभी लोकों का महान् ईश्वर (और) यज्ञ तथा तपस्या के फलों को भोगने-ग्रहण करने वाला, सभी प्राणियों का निष्कारण मित्र, मुझे जान कर (वह साधक) शान्ति को प्राप्त करता है।

उस वर्णित भावों को समक्ष रख कर अभिनव जी कहते हैं-

सर्वाण्येवात्र भूतानि समत्वेनानुपश्यतः।
जडवद्व्यवहारे ऽपि मोक्षायैवावकल्पते॥

इस विश्व के सभी प्राणियों को जो साधक साम्य-दृष्टि से देखता है, उसके लिए जड रूप बेकार का यह सांसारिक व्यवहार मोक्ष का हेतु ही बनता है।

इस श्लोक में वर्णित 'साम्य-दृष्टि' पर ध्यान दें। दृष्टि में साम्य होना चाहिये न कि साम्य-भक्षण में। अपने अपने वर्णानुसार धर्म के अनुकूल भक्षण होना चाहिये। भोजन पवित्र तथा मनोनुकूल होना चाहिये। अपवित्र नहीं।

छठे अध्याय का अन्तिम श्लोक यह है:-

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ६-४९॥

सभी योगियों में भी जो श्रद्धा से युक्त योगी मुझ में लगे हुए मन वाला होकर मुझे भजता है वह (योगी) मुझे अत्यधिक मान्य है। इस अध्याय का संग्रह श्लोक यह रहा-

भगवन्नामसंप्राप्तिमात्रात्सर्वमवाप्यते।
फलिताः शालयः सम्यग्वृष्टिमात्रेऽवलोकिते॥

भगवान् का नाम लेने मात्र से ही सभी कार्य वैसे ही (स्वतः) सिद्ध हो जाते हैं जैसे धान की बालियां मेह बरसते ही परिपक्व हो जाती हैं।

इस उपदेश को हृदय में अंकित करें। भगवान् की नाम-स्मरणा मनुष्य-मात्र का उपकार करने वाला राम-बाण है। अतः अहर्निश भगवान् में मन लगाकर सभी व्यवहार करिये।

सातवें अध्याय का संग्रह-श्लोक भी इसी आशय की पूर्ति करता है-

स्फुटं भगवतो भक्तिराहिता कल्पमंजरी।
साधकेच्छा समुचितां येनाशां परिपूरयेत्॥

भगवान् की भक्ति तो वह कल्प-लता है, जिसका आश्रय लेने से साधक की इच्छा के अनुकूल सभी अभिलाषा पूरी हो जाती है।

अब 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवीं अध्याय के अन्तिम श्लोक को बांचें-

वेदेषु यज्ञेषु तपः सु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अभ्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ ८.२८॥

योगी इस तत्त्व को ठीक से जान कर, वेदों के स्वाध्याय में और यज्ञ, तप तथा दान आदि देने में जिस शुभ-फल की प्राप्ति कही है, उस सब को प्राप्त करता है और सनातन उच्च स्थिति को प्राप्त होता है।

यह पार्यन्तिक स्थिति क्या है? इस स्थिति को स्पष्ट तथा सुन्दर शब्दों में अभिनव जी इस संग्रहश्लोक में कहते हैं:–

सर्वतत्त्वगतत्वेन विज्ञाते परमेश्वरे।
अन्तर्बहिर्न सावस्थान यस्यां भासते विभुः॥

परमेश्वर को सभी तत्त्वों में अनुस्यूत जानने पर वह कोई भी भीतरी या बाहिरी अवस्था नहीं जिस में प्रभु व्यापक रूप से दिखाई न दें।

नवीं अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवान् कितने व्यापक भाव को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ९.३५॥

तुम मुझ में टिकाये हुए मन वाले बनो। मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे शरण हुए तुम आत्मा को मुझ में जुटा कर, मुझ को ही प्राप्त करोगे।

इस कही हुई भगवद् उक्ति का समर्थन करते हुए श्री अभिनव जी आत्म-विमर्श रहित शास्त्र मात्र पढ़ने वालों तथा यज्ञादि कर्म-कांड में रत पुरोहितों के प्रति उलाहना सा देते हुए कहते हैं–

वेदान्वेद न वेद शांभवपदं दूयेत निर्वेदवान्
स्वर्गार्थी यजमानतां प्रतिजहज्जातो यजन्याजकः।
सर्वाः कर्मरसप्रवाह प्रसराः संवित्स्रवन्त्योऽखिला-
स्वात्मानन्दमहाम्बुधिं विदधते नाप्राप्य पूर्णां स्थितिम्॥

(द्वैत में ठहरा हुआ साधक) वेदों को तो जानता है, पर शांभवपद स्वात्मा को नहीं जान पाता। इसीलिए निर्वेद-वैराग्यवान् साधक (अपने में) बिसूरता-प्रभु का ही स्मरण करता रहता है। ऐसा पुरुष यजमानता को छोड़कर याजक पुरोहित ही बना रहता है। (बात तो यूं है) ये सभी कर्मरूपी नदियों के बहाव तो संवित्-रस को ही उगलती हैं, किन्तु पूर्णस्थिति को प्राप्त किये बिना स्वात्म-आनन्द के महान् समुद्र को (ये यज्ञ आदि कर्म) नहीं प्राप्त करा पाते।

इस अध्याय का संग्रहश्लोक यह रहा–

अद्वैते ब्रह्मणि परा सर्वानुग्रहशालिनी।
शक्तिर्विजृम्भते तेन यतनीयं तदाप्तये।। ९।।

सबों को अनुग्रह करने से सुशोभित बनी हुई परा-शक्ति, जो अद्वैत-ब्रह्म में ठहरी है, वही तो विकास को प्राप्त हुई है। अतः उस को प्राप्त करने के लिये भगीरथ-प्रयत्न करना चाहिये।

(क्रमशः)

द्वैतमूलमहोदुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः।।
O, all pain and sorrow is rooted in duality;
there is no remedy for this except the knowledge
that all this visible universe is a falsity and that I
alone am the pure essence of consciousness.

षोडशकलायै श्रीशारिकादेव्यै नमः

कमलेति कौलो जानकीनाथः

शारिका शारदा देवी
शाम्भवी शर्मदा शुभा।
शांकरी शक्ति-संभूता
सुन्दरी सर्व-सन्निभा।।

ज्ञानदा योगदा पूर्णा
वाग्विलासाभिधा प्रभा।
रोगहा शोकहा शर्वा
साऽद्य नः संप्रसीदतु।।

।। ॐ श्री शारिकाभगवत्यै नमः।।

नमः श्रीशारिके तुभ्यं भोगमोक्षप्रदायिनी।
स्वातन्त्र्यरसपूर्णा त्वं पाहि नः शरणागतान्।। १।।

राजराजेश्वरी देवी स्वात्मसाम्राज्यदायिनी।
मानदा ज्ञानदा त्र्यक्षा मातृकाचक्रवासिनी।। २।।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादौ संविदेका न भिद्यते।
संविदमाप्लवन्ती तां तुर्यानन्दस्वरूपिणी।। ३।।

वाग्विलासविभूत्याऽसि व्यक्ता विश्वविमोहिनी।
अव्यक्ता व्यापिनी सूक्ष्मा परा निर्वाणनिर्वृतिः।। ४।।

सुरार्चिताऽसुरैर्वन्द्या शिवसायुज्यदायिनी।
पूर्णतागमनौन्मुख्या तुर्यानन्दविवर्धिनी।। ५।।

स्वप्रकाशा स्वयंज्योतिरौदासीन्यापरिच्युतिः।
मितौ विश्राम्यसि सम्यग्देवी विश्वैकजीवनी।। ६।।

रक्ताम्बरधरा शुभ्रा रक्तपुष्पावतंसिनी।
भवरोगनिमग्नान् त्वमस्मान्पाहि महेश्वरि!।। ७।।

॥ ॐ नमः श्रीशारिकाभगवत्यै॥

सदास्वरूपसाक्षिणी
सदास्वरूपमर्शिणि।
सदा शिवात्मत्र्यम्बके
शिवं कुरु शिवार्चनम्॥ १॥

यदा यदा, यदा तदा
स्मरामि त्वां भजामि त्वाम्।
तदा तदा, तदा कदा
कुरुष्व मे शिवार्पणम्॥ २॥

सुमंगलास्वरूपिणि
सुपिंगलाचिदर्चिनि।
दयार्द्रभावधारिणि
प्रदेहि मे परामृतम्॥ ३॥

त्वमच्युता त्वमक्षरा
त्वमव्ययाऽस्यनर्गला।
कुरुष्व मां शिवार्चकं
ददस्व मे स्वसंपदम्॥ ४॥

सुरूपरूपसंस्थिते
कुरूपरूपगर्हिते।
विबुद्धवृन्दवन्दिते
गृहाण मे निजार्चनम्॥ ५॥

साभार–
सन्त समागम शोध संस्थान
३७/४ पण्डोका कॉलोनी, पलौरा, जम्मू–१८११२१

ओं नमः शिवाय

शैवदर्शन के वातायन से

प्रो० नीलकण्ठ गुरुटू

अनन्तरीयकता— यह शब्द किन्ही दो पदार्थों में पाये जाने वाले अविनाभाव-सम्बन्ध का वाचक है। अन्=नहीं हो, अन्तरीयकता—घुसपैठ—अर्थात् बिनाभाव। दो पदार्थों का ऐसा सम्बन्ध जिसमें विनाभाव अर्थात् अलगाव नाम के लिए भी न हो। इस संसार में कई पदार्थयुग्म ऐसे भी हैं जो विनाभाव की स्थिति में ठहरने नहीं पाते हैं अतः वे केवल आपसी अविनाभाव की स्थिति में ही बने रहते हैं। उदाहरणार्थ—ज्ञान एवं क्रिया इन दोनों में नित्य अविनाभाव संबन्ध ही रहता है क्योंकि यदि वैसी बात न होती तो न ज्ञान और न क्रिया ही होती। ज्ञान क्रिया के विना और क्रिया ज्ञान के विना नहीं ठहर सकते हैं अतः इन दोनों के सम्बन्ध को अनन्तरीयकता अथवा अविनाभाविता सम्बन्ध कहा जाता है। ये दोनों स्वरूपतः अलग होकर भी हमेशा एक दूसरे के साथ सटे रहते हैं।

गुणीभाव— अप्रधानता की स्थिति को गुणीभाव की अवस्था कहते हैं। इसको दूसरे शब्दों में गौणता, अप्रधानता भी कहते हैं।

भोक्तृ-भोग्य-भाव— परमात्मा की लीला अपरंपार है। बहिरंग विश्व का उत्तरोत्तर विकास तब तक कतई संभव नहीं हो सकता है जब तक चेतन और जड भाव आपस में किसी स्वभावसिद्ध सम्बन्ध से जुड़े हुए होकर इस विकास की प्रक्रिया को सम्पन्न न करते। फलतः ये जड एवं चेतन भाव जिस सम्बन्ध से आपस में जुड़े हुए हैं उसको भोक्तृ-भोग्य-भाव संबन्ध कहते हैं। चेतन भाव भोक्ता और जड भाव भोग्य हैं। भोक्ता भोग्यों के बिना और भोग्य भोक्ता भावों के बिना न तो स्वरूपतः अस्तित्व में रह सकते हैं और न किसी क्रिया को संपन्न करने में समर्थ हैं। कारण यह कि इनमें अविनाभाविता है।

पुद्गल— बौद्धों की मान्यता के अनुसार सारे शरीरधारी भावों को 'पुद्गल' कहते हैं। बौद्ध विचारकों के अनुसार समूचा विश्व-प्रपञ्च त्रिक्षणवृत्ति होने के कारण केवल तीन-तीन क्षणों में ही नष्ट भी होता रहता है और फिर नया-नया भी बनता रहता है। तात्पर्य यह कि हरेक पदार्थ (जड़-चेतन दोनों) के अणु पहले क्षण में उत्पन्न, दूसरे क्षण में स्थित और तीसरे क्षण में नष्ट होते रहते हैं। इसी प्रकार इस त्रिक्षणवृत्तिता की धारावाहिता से यह विश्वप्रक्रिया उत्तरोत्तर चलती रहती है। इस पृष्ठभूमि पर संसार के सारे जीवों को पुद्गल कहते हैं

क्योंकि–'पूर्यन्तो गलन्तीति पुद्गलाः' इस लक्षण के अनुसार उनके शरीरों के परमाणु भी तीन-तीन क्षणों की अवधि में ही धारावाहिता से उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं।

प्राणना– प्राणशक्ति का वह मौलिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं सामान्य रूप जो सारे जड़-चेतन पदार्थों में सामान्य रूप में व्यापक रहता है। श्वास एवं प्रश्वास उसी प्राणना के स्थूल रूप होते हैं।

अभाव– किसी भी पदार्थ के पूरे असद्भाव को अभाव कहा जाता है। असद्भाव बिल्कुल वर्तमान न होने के भाव को अभिव्यक्त करता है। यहां तक तो ठीक है परन्तु प्रश्न यह है कि पूरे असद्भाव की अवस्था किसी भी हालत में सिद्ध नहीं होती है। यदि पदार्थों के पूरे असद्भाव की दशा को अभाव कहा जाये तो उसमें भी 'अ' का 'भाव'=सद्भाव ही सिद्ध होता है। 'अ' से चित्भाव का अभिप्राय है। चिद्भाव का किसी हालत में असद्भाव नहीं होता है। फलतः जिसको हम 'अभाव' कहते हैं वह वास्तव में चिद्भाव के भाव वर्तमानता की ही दशा होती है।

उत्सादन– प्रमाता के द्वारा जानबूझ कर किसी पदार्थ के अस्तित्व को मिटा देना या नकारना 'उत्सादन' कहा जाता है।

योगक्षेम– ये दो शब्द हैं योग और क्षेम। किसी भी अतिदुर्लभ पदार्थ की अनाशङ्कित प्राप्ति को 'योग', और उपरान्त उस प्राप्त किए गए अर्थ के रक्षण अर्थात् बचाए रखने को 'क्षेम' कहते हैं–'अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः।

ब्रह्म– 'ब्रह्म' उस निराकार, अविचल, अपरिणामी, नित्य, व्यापक, 'सद्भाव' को कहते हैं जो स्वरूपतः 'वृहत्' अर्थात् कल्पना से भी अतीत विस्तार वाला एवं 'बृंहक'-अर्थात् स्वरूप के ही गर्भ में पनपते रहने वाले विश्व को पुष्टि प्रदान करने वाला है। भगवती चित्-शक्ति से अधिक या अतिरिक्त और कोई ब्रह्म नहीं है। वही मात्र मूर्धन्य 'ब्रह्म' है। उसको प्रणाम हो।

भूतभावक– ऐसा सत्यत्व, जिसमें सारे मिथ्यावाद, विरोधाभास एवं पाखण्ड के प्रपञ्च का लेशमात्र भी मिश्रण न हो, उत्पन्न करने वाले आधारभूत अस्तित्व को 'भूतभावक' कहते हैं।

क्षर– जिस पदार्थ का 'क्षरण' होता रहता है अर्थात् जिसको "उत्पन्न होना, वर्तमान रहना, बढ़ना, परिणत होना क्षीण होना और नष्ट होना"–इन छः विकारों का विषय बनना पड़ता है, 'क्षर' कहलाता है।

अक्षर– ऐसा 'सद्भाव'–अर्थात् शाश्वतिक भाव जो पूर्णतया क्षर से अतीत एवं सच्चिदानन्दमय है 'अक्षर' कहलाता है।

द्वार– शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध–इन पांच भिन्न भिन्न स्वरूपवाले ग्राह्य-विषयों के लिए अंतः प्रवेश करने के उपयुक्त दरवाज़े अर्थात् 'पांच ज्ञानेन्द्रियों' को द्वार कहते हैं।

पुरुष– 'पुरि शेते इति पुरुषः'–किसी भी प्रकार के जीवित शरीर में रहने वाले जीवनादायक तत्त्व अर्थात् चित्-अंश को पुरुष कहते हैं।

विश्व-सत्सङ्ग

भगवत्कृपा–एक विचित्र रहस्य

श्री जानकीनाथ कौल 'कमल'

(गतांक से आगे)

श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रों में भगवत्कृपा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कुछ एक उदाहरण ही सच्चे भगवद्-भक्तों के लिए मर्मस्पर्शी हो सकते हैं–

१. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-प्रसंग में मैत्रेयी पर भगवत्कृपा उसी समय हुई थी जब उसके निर्मल अन्तःकरण से प्रव्रज्या करते हुए अपने श्रद्धेय पति के प्रति ये शब्द निकले थे–

येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्॥

(बृहदारण्यकोपनिषद्, २.४.३)

'जिस (गृह-सम्पत्ति) से मैं अमर नहीं हो सकती उससे मेरा क्या प्रयोजन।' तभी तो महर्षि याज्ञवल्क्य के श्रीमुख से स्वानुभवैकगम्य यह अलौकिक वाक्य स्वभाव से ही निकला था–

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥

(बृहदारण्यकोपनिषद्, २.४.१४)

'जिस के द्वारा इस सबको जानता है, उसे किस के द्वारा जाने? (हे मैत्रेयी!) विज्ञाता को किसके द्वारा जानें?'

२. याज्ञवल्क्य-गार्गी संवाद में गार्गी के प्रश्नों के उत्तर देते हुए जब याज्ञवल्क्य ने उसके प्रति कहा–

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।

(बृहदारण्यकोपनिषद्, ३.८.१०)

'हे गार्गी! जो कोई भी इस अक्षर को बिना जाने इस लोक से मर कर जाता है, वह कृपण (दीन) है।'

तो गार्गी चुप हुई थी। उसके लिए भगवत्कृपा की यही शुभ घड़ी थी। तर्क-बुद्धि भगवत्कृपा से अत्यन्त निर्मल हो चुकी थी।

३. आरुणि-श्वेतकेतु-प्रसंग में जब श्वेतकेतु बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन कराकर चौबीस वर्ष का होने पर सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर अपने को बड़ा बुद्धिमान् और व्याख्या करने वाला मानते हुए उद्दण्डभाव से घर लौटा तो पिता ने उससे कहा–

'तमादेशमप्राक्ष्यः'

'क्या तूने वह आदेश (अपने गुरु से) पूछा है?'

येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।

(छान्दोग्योपनिषद्, ६.१.३)

'जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है।'

यथा सौम्यकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥

(छान्दोग्योपनिषद्, ६.१.४)

'हे सौम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिण्ड के द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाम-मात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।'

तब श्वेतकेतु पर भगवत्कृपा का प्रादुर्भाव हुआ। उसने श्रद्धापूर्वक श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ अपने पिता आरुणि की शरण में जाकर ही, वह परम-तत्त्व जान लिया।

४. महाभारत के वनपर्व अध्याय १३२-१३४ में अष्टावक्र-जनक की कथा है। पूर्व पुण्यविपाक से परमार्थ-जिज्ञासा राजा जनक में उत्पन्न हुई थी। इसी जिज्ञासा में उसे परमदयालु श्री अष्टावक्र जी मिले। जनक ने तो श्रद्धापूर्वक उनको प्रणाम किया परन्तु मन में ऋषि के आठ वक्र अंग और कुरूपता को देखकर, अभिमान तथा घृणा प्रवेश कर गई। दिव्यदृष्टि के द्वारा राजा के मन का विचार जानकर अष्टावक्र जी ने कहा–'हे राजन्! देहदृष्टि को छोड़ यदि आत्मदृष्टि करोगे तो देखोगे कि यह देह टेढ़ी है परन्तु इसमें स्थित आत्मा टेढ़ी नहीं है', तो जनक में सच्ची जिज्ञासा जाग्रत हुई। भगवत्कृपा से उसका मोह तत्काल दूर हुआ और उसी क्षण गुरु-दीक्षा के लिए प्रार्थना स्वीकार कर अष्टावक्र जी ने उसे अद्वैत ब्रह्मनिष्ठा में सुस्थिर करने के लिए आरम्भ में कहा–

मुक्तिमिच्छसि चेत् तात! विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज।।

(अष्टावक्र संहिता, २.१)

जो मोक्ष है तू चाहता, विष-सम विषय तज तात रे।
आर्जव, क्षमा, संतोष, शम-दम पी सुधा दिन रात रे।।

(अनुवादः यतिवर भोले बाबा जी)

सद्गुरु अष्टावक्र द्वारा जिज्ञासु राजा जनक पर भगवत्कृपा इस प्रकार प्रकट हुई, और आज भी संसार भर के लिए 'अष्टावक्र-संहिता' जैसा अनुभवपूर्ण तथा अत्युत्तम ग्रन्थ उपलब्ध है। परमहंस रामकृष्ण ने युवा नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) को इसी अनुपम ग्रन्थ के अध्ययन पर बल दिया था।

५. भक्त शिरोमणि हनुमान पर भगवत्कृपा का अलौकिक उदाहरण रामायण में मिलता है। धनुष-बाण लिए मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र लक्ष्मण के साथ ऋष्यमूक पर्वत के बगल में रावण द्वारा चुराई सीता के अन्वेषणार्थ चल रहे थे तो सुग्रीव की दृष्टि उन पर पड़ी। वह भयभीत हुआ और सोचने लगा कि कहीं बाली के भेजे हुए ये वीर मुझे मारने के लिए तो नहीं आ रहे। उसने अपने एक मन्त्री हनुमान् को ब्रह्मचारी वेष में उनसे उस बात का पता करने के लिए भेजा। राम-लक्ष्मण से भेंट हुई। यही वह उत्तम घड़ी थी जब भक्त हनुमान पर भगवत्कृपा हुई थी। बस भक्त को भगवान् मिल गये।

६. **नन्द घर आनन्द भयो जै कन्हैया लाल की।**

भगवान् कृष्ण का जन्म कारावास में वसुदेव-देवकी से हुआ। परन्तु भगवत्कृपा नन्दबाबा-जसुदा के भाग्य में थी। कवि ने मार्मिक शब्दों में इसका संकेत किया है–

बेटा भयो वसुदेव के घर, दुन्दुभि बाजे नन्द के द्वारे।

७. नरोत्तमदासकृत लोकप्रिय सुदामा-चरित में भगवत्कृपा का अनूठा उदाहरण यूं मिलता है–

जब दरिद्र ब्राह्मण सुदामा अपनी पत्नी सुशीला की प्रेरणा से भगवान् कृष्ण से मिलने द्वारका चले तो–

भेंटि भली विधि विप्र सों, कर गहि त्रिभुवनराय।
अन्तःपुर को लै गए, जहां न दूसरा जाय।।

ऐसे बेहाल बिबाइन सों
पग कंटक जाल लगे पुनि जोए,
हाय महा दुःख पायौ सखा।
तुम आए इतै न कितै दिन खोए।
देखि सुदामा की दीन दसा
करुणा करिकै करुणानिधि रोए,
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं,
नैनन के जल सों पग धोए।

और अत्यन्त प्रेमभाव से सखा कृष्ण प्रिय सुदामा से बोले–

कछु भाभी हम को दियौ, सो तुम काहे न देत।
चांपि पोटरी कांख में, रहो कहौ केहि हेत।।

संकोच में पड़ा सुदामा किंकर्त्तव्यमूढ़ था। इस चिन्तनातीत दशा में वह–

खोलत सकुचत गांठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुरि परे, बिखरि गए तेहि ठौर।।

बस, सुदामा पर, उसके अनजाने ही, भगवत्कृपा हुई और भगवान् कृष्ण ने–

एक मुट्ठी हरि भरि लई, लीन्हीं मुख में डारि।
चबत चबाऊ करन लगे, चतुरानन त्रिपुरारि।।

बस सुदामा के बिखरे तण्डुल उसके लिए भगवत्कृपा के कारण बन गए।

८. जैन-कथा में पढ़ा है कि एक साधक-शिष्य गुफा के द्वार पर घुटनों तक बर्फ में समय की संज्ञा से अतीत होकर गुरु महाराज के दर्शनार्थ खड़ा था, तो कई दिनों के बाद जब समाधिस्थ गुरु की आंख खुली तो भक्त-शिष्य पर कृपा कटाक्ष हुआ।

९. युवा नरेन्द्र नास्तिक था। अपने कुछ मित्रों की प्रेरणा से वह दक्षिणेश्वर मन्दिर में परमहंस रामकृष्ण के पास हँसी-मखोल उड़ाने चला। कमरे के द्वार पर पहुंच कर परमहंस देव के दर्शन पाकर ही उसका काया-पलट हुआ और स्वामी विवेकानन्द जनता के लिए आदरणीय गौरव का स्थान पा गए। उसे क्या पता था कि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'—'परमात्मा तो उसी को प्राप्त होते हैं जिस को वह स्वीकार कर लेते हैं।'

सारांश यह है कि कुण्डलिनी शक्ति प्रत्येक प्राणी में मौजूद है। इस महाशक्ति का विकास जाति, कुल, धर्म, स्थान तथा समय के विचार से रहित किसी भी प्राणी में होता है। 'कहां, कब या कैसे भगवत्कृपा होती है' इस विषय में अल्पबुद्धि मनुष्य कुछ कह नहीं सकता। सच्चे साधक के अन्तरात्मा में तो सर्वशक्तिमान् भगवान् के प्रति केवल यही प्रार्थना होती है—

नान्या स्पृहा रघुपते! हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

'हे रघुपति! हमारे हृदय में तो कोई दूसरी इच्छा नहीं है। आप अखिल विश्व चराचर के अन्तरात्मा हो और मैं यह सत्य कहता हूँ। हे रघुपुङ्गव! मुझे निर्भर भक्ति का दान दो और मेरे मन को कामादि दोष से रहित बना दो।'

भगवत्कृपा प्राप्त ज्ञानी भक्त-सन्त अपने स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान प्राप्त कर चकित-मुद्रा में 'बशाशत की लहर' को इस प्रकार प्रकट करता है—

मैं क्या यह देखता हूँ मेरा ही नूर मैं हूँ;
आंखें जिधर को देखें बस एक मैं ही मैं हूँ।
यूं तो अनेक शक्लें आंखों में जम रही थीं,
अब तो वह सारी लेकिन कुछ भी नहीं है मैं हूँ।
वाह् वा! अजब तमाशा! यह खेल है गज़ब का,
जिस में कि जाम भर कर मुझको पिलाता मैं हूँ।

खाता खिलाता मैं हूँ पीता पिलाता मैं हूँ,
यह खान-पान लेकिन कुछ भी नहीं है मैं हूँ।
बाजे सुरीले गाने तम्बूर के तराने,
बहदत में अपनी हर सू सुनता सुनाता मैं हूँ।
गर यां हूँ तो यहां हूँ, गर वां हूँ तो वहां हूँ,
आहा! अहा! अहा हा! बस मैं ही मैं ही मैं हूँ।

(कमल)

अतः मैं उन पूर्णब्रह्म चित्स्वरूप सद्गुरु महाराज के चरण-कमलों का आश्रय लेता हूँ जिनके कृपाकटाक्ष से–'पंगु गिरि लंघै, अन्धे को सब कछु दर्शायी'–

ऐसी भगवत्कृपा सुलभ होती है–

या काचिद् वै क्वचिदपि दशा किञ्चिदभ्यासपूरा–
दानन्दाख्या भवभयहरा स्यात् सुभक्तस्य सद्यः।
सिद्धिः सैषा सुरपितृनृणां यस्य भक्त्या भवेन्नु
तं स्वात्मानं विभववपुषं सद्गुरुं वै प्रपद्ये॥

–दैशिकपञ्चदशी (कमल)

'कहीं किसी दीर्घकाल तक निरन्तर चलने वाले धारावाहिक अभ्यास से किसी श्रेष्ठ भक्त को जो तत्काल कोई अनिर्वचनीय, भवभयहारिणी आनन्दावस्था प्राप्त हो जाती है, वही उसकी सिद्धि है। देवताओं, पितरों तथा मनुष्यों को यह उत्कृष्ट सिद्धि, जिनकी भक्ति (सेवा-पूजा) से उपलब्ध होती है उन ज्ञानादि ऐश्वर्यमय शरीर वाले निजात्मस्वरूप सद्गुरु की मैं शरण लेता हूँ।'

यह भगवत्कृपा का अलौकिक रहस्य है।

Think it over

१.

निःस्पृहं मानसंयस्य नैरापूयेऽपि महात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते।।

With whom can that great - souled one he compared, who is desireless even in disappointment and is satisfied with self-knowledge?

२.

तदाबन्धो यदा चित्तं किञ्चित् वांछति शोचति।
किंचित् मुञ्चति गृह्णाति किंचित् हृष्यति कुप्यति।।

There is bondage when the mind desires for something, grieves for something, rejects something, accepts something, rejoices at something and gets angry with something.

३.

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा।
मत्वेति हेलया किंचिन्मा गृहाण विमुञ्च मा।।

When there is no 'I' then there is liberation;
When there is 'I' then there is bondage; therefore knowing thus, do not accept or reject anything.

४.

कस्यापि तात धन्यस्य लोक चेष्टावलोकनात्।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गताः।।

Rare is that blessed person; O child, who by seeing the foolish ways of the world, has extinguished his desire for life, enjoyment and learning.

*(**Gems** from Aṣṭāvakra Gītā Sāra)*

ISHWAR ASHRAM TRUST

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110044. Phone 6943307

Ref. No. IAT/S/203/98 Date : 24.12.98

Thanks

The family of late Shri Ram Chandra Raina (Ex-Settlement Commissioner, J & K Govt.) have donated to the Ishwar Ashram Trust, very valuable books, pertaining to Kashmir Shaivism, from the personal library of Shri Raina. We acknowledge this kind of gesture gratefully and at the same time make a fervent appeal to the learned readers of MALINI to donate to the trust any book/books they may have on the above said subject. This will enable us to build a reference Shelf/Library for the benefit of the readers interested in the Kashmir Shaiva philosophy.

I. K. Raina
Secretary, I.A. Trust

NEW INDIA ASSURANCE

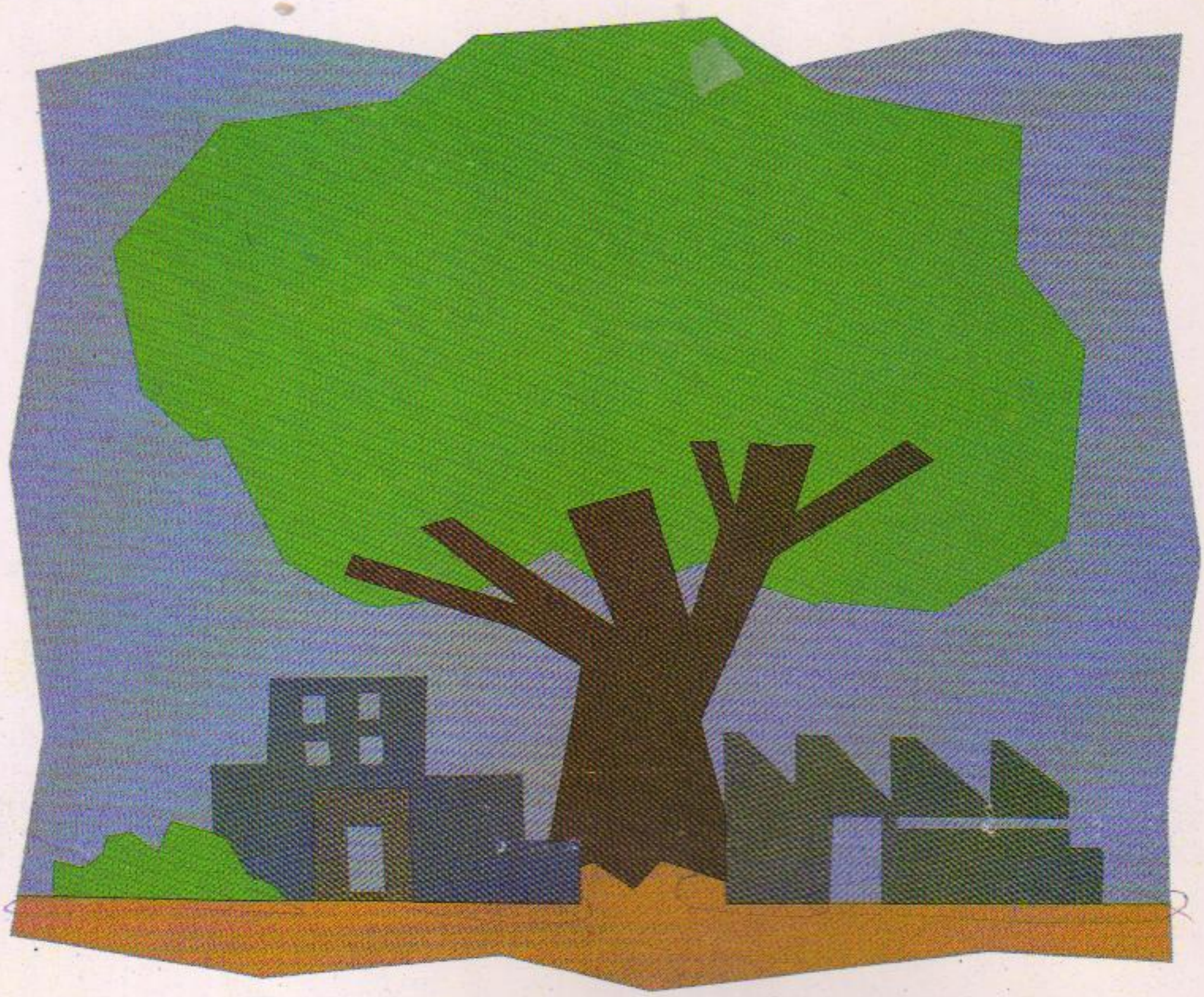

AT HOME OR IN BUSINESS...
WE KEEP YOU SAFE, SECURE AND HAPPY.

New India Assurance offers a wide range of insurance covers. That provide security in nearly every field of human activity.

From theft or burglary at home. To cargo and hull insurance in shipping. Even poultry and livestock.

At New India, providing protection has been a way of life. Backed by service that has enabled it to emerge as India's leading general insurance company.

Our insurance policies: • **Householder's** • **Personal Accident** • **Mediclaim** • **Overseas Mediclaim** • **Cancer** • **Machinery** • **Boiler & Pressure Plant** • **Electronic Equipment** • **Cold Storage** • **Marine (Cargo)** • **Hull** • **Shopkeeper's** • **Livestock & Poultry** • **Other Property** • **Horticulture** • **Package (agriculture)**

TOWARDS RS. 1000 CRORE PREMIUM

THE NEW INDIA ASSURANCE CO. LTD.